30

गहलौर गाँव के संबंध में मेरी अर्थलोभ से मुक्ति

बात 1946 की है। गहलौर नामक एक गाँव मेरे पिता रायसाहब के दिये हुए निजी रुपयों की मोर्टगेज डिग्री में मैंने नीलाम करवाकर अपने नाम से खरीद लिया था। उस गाँव में तीन सौ एकड़ मालिक की निजी भूमि थी जिसका मूल्य उस समय 3-4 लाख रुपयों से ऊपर था। गाँव का मालिक महेशसिंह, जिस पर मेरी डिग्री थी, उच्चतम न्यायालय तक लड़कर हार चुका था। उसने गाँववालों पर झूठे-सच्चे मुकदमे कर-करके उनकी जमीनें छीन-छीन कर इतना बड़ा भू-भाग अपने नाम से बना लिया था अतः सारे गाँववाले उसके शत्रु हो गये थे और मेरे पक्ष में हो गये थे। फलतः मुझे सहज ही कब्जादखल भी मिल गया था। अंत में महेशसिंह मेरी शरण में आया। उसने कहा कि आप अपनी डिग्री के रुपये ले लीजिए, जो पूरे जोड़ कर करीब बीस हजार होते है, और मेरा गाँव छोड़ दीजिए क्योंकि उसके अतिरिक्त मेरे पास एक इंच भी जमीन नहीं है और मैं भिखारी हो जाऊँगा। मेरे ताऊजी और जन्मदाता पिताजी ने भी, जो केवल सम्मति दे स कते थे, क्योंकि उनका इस मामले में कोई कानूनी अधिकार नहीं था, यही कहा कि किसीकी लाखों रुपयों की संपत्ति छीनना उचित नहीं है। उससे अपने रुपये लेकर उसे यह गाँव लौटा देना चाहिए। कुल जोड़कर हिसाब से बीस हजार रुपये होते थे जिसमें उसके अनुनय करने से दो हजार रुपये कम करके अठारह हजार रुपये पर बात ठहरी। मैंने उसे एक सप्ताह का समय दिया और कहा कि यदि वह इस अवधि में 18 हजार रुपये ले आये तो मैं उसका गाँव उसके नाम लिख दूँगा। वह न तो 10-15 दिनों तक आया और न उसने कोई संदेश ही भेजा और इस बीच एक दूसरा नाटक आरंभ हो गया। हमारे नगर से 7-8 मील पर विश्वप्रसिद्ध बुद्धगया का मंदिर है जिसका अत्यंत समृद्धिशाली महंत प्रायः 10-15 हजार एकड़ भूमि का स्वामी था। बुद्धगया के मठ में सैकड़ों सन्यासी रहते हैं तथा महंत की शक्ति किसी राजा से कम नहीं है। इस गाँव की तीन-चार लाख मूल्य की 300 एकड़ भूमि को हस्तगत करने

के विचार से उसने मेरे पास इस गाँव को चालीस हजार रुपयों में खरीद लेने का संदेश एक दलाल के द्वारा भेजा। मैं पहले कह चुका हूँ कि 1946 तक हमारा परिवार अपनी प्राचीन समृद्ध अवस्था से काफी नीचे गिर चुका था। प्रायः एक दो गाँवों को छोड़कर शेष सभी गाँव जमींदारों के जमा रुपयों को चुकाने में बिक चुके थे। नगदी रुपये दिखाई ही नहीं देते थे और व्यापार भी बहुत सिमट गया था। नगर की बिजली कंपनी हमारे परिवार के हाथ से निकल चुकी थी जिसके कारण हमारी प्रतिष्ठा को भी धक्का लगा था। नगदी रुपयों का अभाव तो था ही, ऊपर से परिवार पर जमींदारों के पचासों हजार रुपये कर्ज के रूप में सिर पर थे। अतः उस परिस्थिति में इन चालीस हजार रुपयों का, जो परिवार के न होकर मेरे व्यक्तिगत रुपये होते, उस समय बहुत बड़ा प्रलोभन था। महेशसिंह को दी हुई एक सप्ताह की अवधि कब की समाप्त हो चुकी थी। उसके विरुद्ध गाँववालों पर किये गये घोर नृशंसता के आरोप भी थे जिसके कारण वह किसी प्रकार भी दया पाने का अधिकारी नहीं था। मैं प्रलोभन में आ गया और मैंने इस पर विचार करने का निश्चय किया। मैंने ताऊजी से पूछा कि क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा कि करना तो तुम्हें ही है परंतु जिस रायसाहब की गद्दी पर तुम बैठे हो, उनकी एक घटना तुम्हें सुना देता हूँ। इसे सुनकर तुम निर्णय लेना। रायसाहब के पास ब्राह्मणों का एक गाँव नीलाम होकर आ गया। वे रोते-धोते रायसाहब के पास आये। उनके पास चुकाने को रुपये भी नहीं थे। रायसाहब ने उनसे कहा कि आप लोग घबराइए मत। मैं आप लोगों की संपत्ति बचाने का प्रयत्न करूँगा। रायसाहब ने उस गाँव के 25 प्रतिशत भाग को बेचकर अपने रुपये वसूल कर लिए और शेष 75 प्रतिशत गाँव उन ब्राह्मणों को लौटा दिया। मेरे जन्मदाता पिताजी जो अत्यंत सरल और शांत स्वभाव के थे, उन्होंने भी यही सम्मति दी कि तुम्हें, जिसका गाँव है, उसे ही उसका गाँव लौटा देना चाहिए। हम लोग व्यापारी हैं, अपने बकाया रुपयों के सिवा इस प्रकार दूसरों की संपत्ति कानून की सुविधा पाकर हस्तगत करना उचित नहीं हैं। पर मेरे सिर पर तो लालच सवार था। भूखे के लिए रोटी का प्रलोभन कितना अधिक होता है इसे भुक्तभोगी ही समझ सकते है। फिर यहाँ तो रोटी ही नहीं, मोहनभोग हलवे का प्रलोभन था। 1946 में चालीस हजार के स्थान पर अठारह हजार रुपये लेना अर्थात बाइस हजार रुपयों की राशि छोड़ देना और वह भी उस स्थिति में जब पास में कुछ भी नगद रुपये न हों और सिर पर कर्जा लदा हो, बहुत कठिन बात थी। इस उधेड़ बुन में मेरे तीन-चार दिन बीत गये। रातों की नींद गायब हो गयी। पत्नी से पूछा तो उसने भी स्पष्ट उत्तर

नहीं दिया। उसकी भी मेरी-सी ही हाँ-ना की स्थिति थी। मेरे मन में, रुपयों का लालच भुलाकर गाँव उसके स्वामी को लौटाने का विचार आया और अपनी पत्नी से मैंने उसके पिता के धर्मशाला बनाने की बात कही और कहा कि समझ लेना हम लोगों ने बाइस हजार रुपयों में एक धर्मशाला बना दी है। उसके दिवंगत पिता के संबध में भी इस प्रकार के असमंजस की घटना मेरी सास ने मुझे बतायी थी। उनके पास एक बहुत बड़ा गाँव नीलाम होकर आ गया था। उसमें बड़े-बड़े बाग भी थे। जिन पर मेरी सास का बहुत मन था। परंतु वह गाँव अपनी छोटी-सी रकम लेकर तुरत उन्होंने उसके स्वामी को लौटा दिया। उन्होंने मेरी सास से कहा, 'न जाने किन पापों के कारण मैं इतनी विशाल संपत्ति के रहते भी एक पुत्र का मुँह देखने के लिए तरस रहा हूँ। आगे भी क्यों किसीकी आत्मा को कष्ट देकर, और संपत्ति बटोरने का पाप करूँ। आश्चर्य की बात तो यह थी कि गाँव की रजिस्टरी के सात दिनों के अंदर-अंदर उनकी तथा उस गाँव के स्वामी की, दोनों की मृत्यु हो गयी। ये सब ज्ञान की बातें एक ओर थीं तो दूसरी ओर महेशसिंह ने जो बरसों मुझसे मुकदमेबाजी की थी तथा गाँववालों के साथ जो राक्षसी व्यवहार किया था, वह दूसरी ओर था। 'ऐसे व्यक्ति पर मैं दया क्यों करूँ! उसके पापों का दंड ही विधाता ने मेरे हाथों से दिलवाया है। उसे तो अपनी करनी का फल भोगना ही चाहिए। वह रास्ते का भिखारी बन जाय तो बन जाय, मैं इतनी बड़ी रकम क्यों छोड़ूँ!' इस मानसिक द्वंद्व में प्रायः तीन रातें जागते ही बीतीं। अंत में लोभ की जय हुई। मैं चौथे दिन भोर में कामेश्वरलाल नामक दलाल के साथ बुद्धगया चला गया और उन्हें विक्रयपत्र के लिए अपने कागजात सौंप कर गया लौट आया। कचहरी सुबह की थी। महंत के यहाँ नगदी रुपयों की कमी न थी। उसके आदमी चालीस हजार रुपये लेकर गया कचहरी पहुँच गये और विक्रयपत्र लिखने लग गये। इसी बीच मैं थोड़ी देर के लिए घर पर आया था कि द्वार पर ही मेरे पिताजी से भेंट हो गयी। मैंने उनसे कहा 'मैंने गाँव चालीस हजार रुपयों में महंत को दे दिया। महेशसिंह का तो हप्तों से पता भी नहीं है और ऐसे दुष्ट के लिए मैं अपने बाइस हजार रुपयें क्यों छोड़ूँ! उसको दी हुई एक सप्ताह की अवधि भी कब की समाप्त हो चुकी है। मुझे इतनी बड़ी रकम छोड़ते पीड़ा होती है। पिताजी ने कहा, 'उस व्यक्ति की संपत्ति महंत को दे देना बहुत अनुचित होगा। यदि तुम्हें बाइस हजार रुपयों की हानि का मोह है तो तुम समझ लो, तुमने वे रुपये मुझे दे दिये हैं।' मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। कागज महंत के आदमियों को देकर लौटते समय सारे रास्ते मेरी वैसी ही मानसिक स्थिति थी जैसे कोई मुर्दे का

शवदाह कर के लौट रहा हो। रुपयों के लाभ की प्रसन्नता के स्थान पर किसीके परिवार को नष्ट करने का दुख था। मैं तुरत कचहरी लौट गया जहाँ महंत के कर्मचारी विक्रयपत्र तैयार कर रहे थे। मैंने उनसे कहा 'जरा मुझे मेरा स्वामित्त्व का कागज लौटा दें, कुछ आवश्यक बातें देखनी हैं,' और मैं उनसे उन कागजों को लेकर सीधे घर आ पहुँचा। महंत के प्रतिनिधि को संदेह हुआ कि मैं संभवतः अधिक रुपये चाहता हूँ। कामेश्वर लाल दलाल, जिसे पाँच हजार कमीशन के मिलने थे, दौड़ा-दौड़ा मेरे पास आया। उसने कहा, 'बाबू, महंत साठ हजार रुपये दे रहा है। आप रजिस्टरी के लिए कागज लौटा दें।' अब मेरी अंतर्व्यथा और बढ़ गयी थी। जितनी अधिक रुपयों की राशि बढ़ती थी उतनी अधिक उनको छोड़ने की पीड़ा बढ़ती थी क्योंकि महेशसिंह से तो मुझे 18 हजार रुपये ही मिलने थे अब तक तो 22 हजार के त्याग की बात थी। साठ हजार मिलने की बात आते ही वह त्याग 42 हजार पर पहुँच गया। मैंने समझा कि भगवान मेरी परीक्षा ले रहे हैं। पिताजी के वचनों से मैं एक बार उस मोह की नदी को लाँघ सका हूँ। अब दुबारा वह धारा मुझे डुबा दे, इसके पूर्व ही मुझे कोई ऐसा कदम उठाना चाहिए कि यह बात मेरी अधिकार-सीमा से बाहर निकल जाय। संयोग से दोपहर में महेशसिंह भी आ पहुँचा। उसके पास रुपयों का कोई प्रबंध नहीं हो सका था। मैं और ठहरने को तैयार नहीं था। पहले तो मैंने उसको बहुत कड़े शब्द कहे कि उसने सात दिनों में आने की बात कह कर बीस दिनों तक कोई खोजखबर नहीं ली जिसके कारण मुझे लालच के कारण इतना दुःख झेलना पड़ा। मैंने उसे बताया कि मेरे पिताजी ने ही उसकी रक्षा की है। मैं तो उसका गाँव करीब-करीब बेच ही चुका था। उसे भी शायद बुद्धगया के महंत द्वारा उसके गाँव को खरीदने की बात का पता चल गया था इसीलिए वह खाली हाथ भी मेरे पास आ पहुँचा था। मैंने उससे कहा कि अब मैं और एक दिन भी प्रलोभन की जड़, इस गाँव को अपने पास नहीं रख सकता। 40 हजार से मूल्य 60 हजार तक आ गया है और हो सकता है कल तक महंत एक लाख देने को कहे क्योंकि संपत्ति तीन चार लाख की है। महेश सिंह सब कुछ समझ रहा था परंतु रुपयों का काम तो रुपयों से ही चलता है। वह मेरी स्थिति को भी समझ रहा था। उसने स्वयं अत्यंत अमानवीय व्यवहार द्वारा वह भूमि किसानों से छीनी थी। इतने रुपयों का प्रलोभन छोड़ने का मेरा निर्णय उसे असाधारण लग रहा था और वह इसलिए भयभीत भी था। अंत में एक युक्ति निकली। मैं पहले लिख चुका हूँ कि गया के निकटस्थ गाँव जानीविघा के महंत का, मठ से आने के बाद; हमारे यहाँ ही निवास रहता था। वे उस समय घर पर ही

थे। मैंने उनसे मध्यस्थ बनकर उस गाँव को, अठारह हजार रुपयों में, महेश सिंह की अमानत के रूप में मुझसे लेने को कहा। पूरे रुपये तो दूसरे दिन निकलते परंतु पाँच रुपये के स्टैंप पर मैंने 18000 रुपये में महंतजी के नाम से उस गाँव के बेचने का इकरारनामा लिख दिया और अपने परिवार के सभी प्रमुख व्यक्तियों के गवाही के रूप में उस पर हस्ताक्षर करा दिये। ऐसा मैंने उसे पूरी तरह अपरिवर्तनीय बनाने के लिए किया क्योंकि मुझे डर था कि संध्या तक महंत मूल्य की राशि और बढ़ा दे सकता है जैसा कि बाद में उसने किया भी। इस कागज को करने के दो-घंटे बाद ही मेरे पास महंत ने एक लाख रुपयों का मूल्य उस गाँव के लिए लेने का पैगाम भेजा था। इस घटना का एक दूसरा दु:खद पहलू यह है कि यद्यपि मैंने अपने प्रलोभन पर विजय प्राप्त की और प्रत्यक्षतः 22 हजार या उससे भी अधिक 42 हजार रुपयों का लालच ठुकरा दिया, जानीविघा के 60 वर्षीय महंत जिनके पास मठ की विशाल संपत्ति के अतिरिक्त लाखों रुपये बैंक में जमा थे तथा जो गीता और वेदांत के परम पंडित थे और घंटों मुझे वेदांत की शिक्षा दिया करते थे, रुपये बनाने के मोह को नहीं छोड़ सके और उन्होंने महेश सिंह की जमीन को जो उनके पास 18000 रुपये के एवज में अमानती रक्खी गयी थी, बेचकर उस गाँव से लाख से अधिक रुपये बना लिये। मैंने इस संबंध में उन्हें एक कड़ा पत्र दिया जिसके उत्तर में अपने स्वार्थसाधन के पक्ष में उन्होंने वही दलीलें दीं जो मेरे सम्मुख भी थीं अर्थात् वह व्यक्ति अत्यंत नृशंस है और किसी भी अवस्था में दया का पात्र नहीं है। मैंने उन्हें पुनः लिखा कि यदि उसे दंड ही देना था, जो उनके लिए उचित नहीं था क्योंकि वे भगवान की ओर से इस विषय में न्यायाधीश नहीं नियुक्त हुए थे, तो उस गाँव का अतिरिक्त लाभ मुझे ही मिलना चाहिए था क्योंकि वह मेरी वस्तु थी जिसका मैंने उन्हें ट्रस्टी बनाया था। मेरी इस बात का भी कि एक तो मैं गृहस्थ हूँ और रुपयों की मुझे तीव्र आवश्यकता है जब कि वे बाल-बच्चों की चिंता से मुक्त संन्यासी हैं और उनके लाखों रुपये बैक में पड़े हैं, उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। मुझे इस संबंध में कबीरदास की उक्तियों की याद आती है —

तू माया रघुनाथ की, खेलन चली अहेड़े
मुनि अरु पीर, दिगंबर मारे, कोई न छोड़्या नेड़े
कंचन अरु कामिनी, जग में दुइ फंदा
इनसे जो न बँधावे, उसका मैं बंदा'

महंत ने जो भी किया हो, मेरे जीवन की तो यह एक उज्ज्वल घटना है जिसने मुझे निरंतर संतोष दिया है। इस घटना के एक वर्ष बाद मेरी प्रथम पुत्री शंकुतला की चेचक से मृत्यु हो गयी। मुझे उस समय अनुभव हुआ कि यदि मैंने उक्त गाँव बुद्धगया के महंत को दे दिया होता और इस प्रकार लोभवश एक परिवार को विनष्ट करने का स्वयं उत्तरदायी बना होता तो मैं यही समझता कि उसी कारण मुझे यह विषाद सहना पड़ा है। मैंने उस दुःख को अपने पूर्वजन्म के ही किसी पाप के फल के रूप में स्वीकार कर लिया। जहाँ तक महेशसिंह की संपत्ति का जानीविघा के महंत द्वारा विनष्ट कर दिये जाने का प्रश्न है, उसका मुझ पर कोई उत्तरदायित्व नहीं था क्योंकि मैंने महेशसिंह की सहमति से ही महंत को उस गाँव का स्वामित्व सौंपा था। एक शुभ परिणाम इस घटना का यह भी हुआ कि ईश्वर ने उन 22 हजार रुपयों के त्याग के फलस्वरूप लाखों के घाटे से मेरी रक्षा कर दी। वह कथा बाद में प्रसंगानुसार लिखूँगा। यहाँ तो यह घटना ईश्वर के चमत्कार दिखानेवाली आगे की घटना के पूर्व परिप्रेक्ष्य में लिखी गयी है।